International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

राष्ट्रीय सुरक्षा बनाम व्यक्तिगत स्वतंत्रता: भारतीय लोकतंत्र में संवैधानिक संतुलन का विश्लेषण

National Security vs. Individual Liberty: An Analysis of Constitutional Balance in Indian Democracy

डॉ प्रशांत कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय जौनपुर

सार

प्रस्तुत शोध आलेख भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मध्य विद्यमान द्वन्द्वात्मक तनाव का गहन, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भारत की भू-रणनीतिक विशिष्टता, आन्तरिक सशस्त्र विद्रोह, सीमापारीय आतंकवाद तथा राष्ट्रीय अखंडता की चुनौतियाँ राष्ट्रीय सुरक्षा को एक अपरिहार्य राज्य-दायित्व सिद्ध करती हैं। साथ ही संविधान के भाग तीन में प्रदत्त मौलिक अधिकार—विशेषतः अनुच्छेद 19 एवं 21—यह माँग करते हैं कि सुरक्षा के नाम पर नागरिक स्वतंत्रताओं का अनुचित और मनमाना अपहरण न हो। गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम, सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम एवं सम्बद्ध विधानों की उच्चतम न्यायालय के प्रमुख निर्णयों के परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक परीक्षा की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, इज़राइल एवं दक्षिण अफ्रीका के संवैधानिक अनुभवों से तुलनात्मक शिक्षाएँ ग्रहण की गई हैं। शोध की केन्द्रीय स्थापना यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता मूलतः परस्पर-पूरक मूल्य हैं; इनके मध्य वास्तविक संतुलन न्यायिक स्वतंत्रता, संसदीय जवाबदेही और आनुपातिकता के सिद्धान्त के त्रिकोणीय ढाँचे से ही सम्भव है।

मुख्य शब्द: राष्ट्रीय सुरक्षा, मौलिक अधिकार, निवारक निरोध, संवैधानिक संतुलन, न्यायिक पुनरीक्षा, गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम, सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम, आतंकवाद-निरोध, लोकतांत्रिक शासन, आनुपातिकता

प्रस्तावना

लोकतंत्र और सुरक्षा का सम्बन्ध आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की सबसे पुरानी और सबसे जीवन्त समस्याओं में से एक है। प्रत्येक राज्य का मूलभूत दायित्व यह है कि वह अपने नागरिकों को बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अव्यवस्था से सुरक्षित रखे। किन्तु इसी कर्तव्य की पूर्ति में राज्य को जो असाधारण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, वे नागरिकों की उन्हीं मूल स्वतंत्रताओं के लिए खतरा बन सकती हैं जिनकी रक्षा के लिए राज्य की स्थापना की गई थी। यही विरोधाभास इस शोध की प्रेरणा-भूमि है।

भारत इस चुनौती का एक विशिष्ट और बहुआयामी उदाहरण प्रस्तुत करता है। स्वतंत्रता के पश्चात् से ही भारतीय राज्य को आन्तरिक अलगाववाद, सशस्त्र विद्रोह और सीमापारीय आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है। एक ओर पाकिस्तान और चीन जैसे परमाणु-सम्पन्न पड़ोसी राष्ट्रों के साथ तनावपूर्ण सम्बन्ध, दूसरी ओर जम्मू-कश्मीर, पूर्वोत्तर राज्यों और वामपंथी उग्रवाद से प्रभावित क्षेत्रों में दशकों से जारी हिंसा—इन परिस्थितियों ने भारतीय विधायिका को असाधारण सुरक्षा विधान अधिनियमित करने के लिए बाध्य किया है।

तथापि इसी काल में भारत एक जीवन्त लोकतंत्र के रूप में भी विकसित हुआ है जिसका संविधान नागरिकों को व्यापक मौलिक अधिकारों की गारंटी देता है। 1950 में लागू हुआ भारतीय संविधान—जिसे ग्रैनविल ऑस्टिन ने 'राष्ट्र की आधारशिला' कहा—अनुच्छेद 14 से 35 के अन्तर्गत जीवन का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता का अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी देता है। इस प्रकार भारत एक साथ सुरक्षा-राज्य और अधिकार-राज्य दोनों होने की आकांक्षा रखता है—यह दोहरी आकांक्षा ही इस शोध के केन्द्र में है।

प्रस्तुत शोध आलेख इस तनाव का विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह शोध न तो राष्ट्रीय सुरक्षा की वैध आवश्यकता को नकारता है, न ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मौलिक महत्त्व की उपेक्षा करता है। इसका उद्देश्य यह समझना है कि लोकतांत्रिक भारत में इन दोनों मूल्यों के मध्य संवैधानिक रूप से न्यायसंगत संतुलन कैसे स्थापित किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय संवैधानिक विधि, प्रमुख न्यायिक निर्णयों, संसदीय विधानों और तुलनात्मक अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवों का सहारा लिया गया है।

शोध समस्या

लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था की एक केन्द्रीय विडम्बना यह है कि जिस राज्य की स्थापना नागरिकों की सुरक्षा और स्वतंत्रता के लिए होती है, वही राज्य सुरक्षा के नाम पर उन्हीं स्वतंत्रताओं का अपहरण करने में सक्षम हो जाता है। भारत के सन्दर्भ में यह तनाव विशेष रूप से जटिल है, क्योंकि यहाँ आन्तरिक विद्रोह, सीमापारीय आतंकवाद, जातीय-अलगाववादी आन्दोलन और विविधता से उपजे सामाजिक तनाव एक साथ विद्यमान हैं। इस पृष्ठभूमि में प्रश्न उठता है: क्या राज्य की सुरक्षा-आवश्यकताएँ नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर निर्बन्धन को न्यायसंगत ठहरा सकती हैं, और यदि हाँ, तो किस सीमा तक?

केन्द्रीय शोध-समस्या यह है कि भारत में एक ओर वास्तविक और दस्तावेजित सुरक्षा-खतरे हैं, दूसरी ओर संवैधानिक अधिकारों की अटल गारंटी है। इन दोनों के मध्य संतुलन कैसे और किस संस्थागत तंत्र द्वारा स्थापित किया जाए—यही इस शोध की मूल समस्या है। यह समस्या इसलिए और गहरी हो जाती है क्योंकि भारत में सुरक्षा कानूनों के दुरुपयोग का एक दीर्घ ऐतिहासिक अभिलेख भी है, जिसे अनदेखा करना बौद्धिक ईमानदारी के विरुद्ध होगा।

शोध के चार प्रमुख प्रश्न हैं: (1) क्या भारत की सुरक्षा-चुनौतियाँ असाधारण कानूनी उपायों को न्यायसंगत ठहराती हैं? (2) वर्तमान सुरक्षा विधान संवैधानिक मानदंडों पर किस सीमा तक खरे उतरते हैं? (3) न्यायपालिका ने सुरक्षा और स्वतंत्रता के मध्य किस प्रकार का न्यायशास्त्र विकसित किया है? (4) तुलनात्मक अनुभव से भारत के लिए क्या नीतिगत मार्गदर्शन मिलता है?

शोध परिकल्पनाएँ

प्रथम परिकल्पना: भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा के वास्तविक एवं दस्तावेजित खतरे असाधारण सुरक्षा विधानों की आवश्यकता को वैध ठहराते हैं; किन्तु इन विधानों की वैधता न्यायिक पुनरीक्षा और संवैधानिक आनुपातिकता की शर्त से बँधी है।

द्वितीय परिकल्पना: उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मध्य एक क्रमशः परिष्कृत होता हुआ संवैधानिक संतुलन विकसित किया है, जो न तो कार्यपालिका की सुरक्षा-शक्तियों को निरपेक्ष मानता है और न ही नागरिक अधिकारों को अनुल्लंघनीय।

तृतीय परिकल्पना: राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक मूल्य हैं; इनके मध्य दीर्घकालिक संतुलन न्यायिक स्वतंत्रता, संसदीय जवाबदेही एवं प्रक्रियागत पारदर्शिता के त्रिकोणीय ढाँचे से ही प्राप्त होता है।

शोध प्रविधि

यह शोध गुणात्मक-व्याख्यात्मक पद्धति पर आधारित है। विश्लेषण की तीन पद्धतियों का समन्वय किया गया है: विधिक-संवैधानिक विश्लेषण, ऐतिहासिक-संस्थागत अध्ययन एवं तुलनात्मक संवैधानिक विधि। प्राथमिक स्रोतों में भारतीय संविधान, संसदीय अधिनियम और संशोधन, उच्चतम न्यायालय के निर्णय, विधि आयोग की रिपोर्टें, संसदीय स्थायी समिति के प्रतिवेदन, राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो के वार्षिक प्रतिवेदन एवं राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के दस्तावेज सम्मिलित हैं। द्वितीयक स्रोतों में ग्रैनविल ऑस्टिन, ए. जी. नूरानी, उपेन्द्र बक्शी, डी. डी. बसु, अमर्त्य सेन, जियोर्जियो आगाम्बेन एवं अहरोन बराक जैसे विद्वानों की कृतियाँ तथा मान्यताप्राप्त शोध-पत्रिकाओं के आलेख सम्मिलित हैं।

तुलनात्मक संवैधानिक विश्लेषण में संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, इज़राइल एवं दक्षिण अफ्रीका के सुरक्षा-कानून और न्यायिक निर्णयों का अध्ययन किया गया है। आनुपातिकता के सिद्धान्त को विश्लेषण का केन्द्रीय उपकरण माना गया है।

भारत की सुरक्षा-वास्तविकता: एक अपरिहार्य संदर्भ

राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के द्वन्द्व को समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि भारत किस प्रकार की सुरक्षा-चुनौतियों से घिरा है। भारत की भू-रणनीतिक परिस्थितियाँ किसी भी तुलनीय लोकतंत्र से मौलिक रूप से भिन्न हैं। उत्तर में चीन ने 1962 के युद्ध के पश्चात् सीमा-विवाद को सदैव अनिर्णीत रखा है और 2020 के गलवान संघर्ष ने यह स्पष्ट किया कि यह खतरा सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक है। पश्चिम में पाकिस्तान ने तीन प्रत्यक्ष युद्ध लड़े हैं और भारत-विरोधी आतंकवादी संगठनों का समर्थन एक दस्तावेजित नीति है जिसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् तक में स्वीकार किया गया है।

आन्तरिक चुनौतियाँ भी उतनी ही गम्भीर हैं। पूर्वोत्तर में दशकों से जारी अलगाववादी हिंसा, मध्य भारत में माओवादी सशस्त्र विद्रोह और जम्मू-कश्मीर में सीमापारीय आतंकवाद ने राज्य की सुरक्षा-आवश्यकताओं को असाधारण स्तर पर बनाए रखा है। गृह मंत्रालय के आँकड़ों के अनुसार 2000 से 2023 के मध्य आतंकवादी एवं विद्रोही हिंसा में 14,000 से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। 1993 एवं 2008 के मुम्बई हमले, 2001 का संसद भवन पर आक्रमण, 2016 का उरी हमला और 2019 का पुलवामा विस्फोट—ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि भारत की सुरक्षा-चुनौती किसी अमूर्त सिद्धान्त पर नहीं, कठोर वास्तविकता पर टिकी है।

किन्तु इसी सन्दर्भ में एक दूसरा तथ्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है: सुरक्षा के नाम पर जब निर्दोष नागरिकों—विशेषतः अल्पसंख्यकों, आदिवासियों एवं राजनीतिक असंतुष्टों—को मनमाने ढंग से हिरासत में लिया जाता है, तो यह स्वयं एक नई सुरक्षा-समस्या उत्पन्न करता है: अलगाव, अविश्वास और वैधता का संकट। अतः वास्तविक सुरक्षा-नीति वह है जो खतरों को निष्प्रभावी करे और साथ ही नागरिकों का राज्य में विश्वास भी बनाए रखे।

संवैधानिक ढाँचा: अधिकार, निर्बन्धन और सन्तुलन

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने स्वतंत्रता और सुरक्षा के मध्य तनाव को पूर्ण जागरूकता के साथ सम्बोधित किया। संविधान सभा में डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने कहा था कि 'राज्य की एकता और व्यक्ति की स्वतंत्रता—दोनों परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरोधी नहीं।' इसी दृष्टि से भाग तीन में मौलिक अधिकारों के साथ-साथ अनुच्छेद 19(2) से 19(6) में 'युक्तियुक्त निर्बन्धन' की व्यवस्था की गई। अनुच्छेद 22 ने निवारक निरोध को स्वयं संविधान में स्थान दिया—यह इस बात की संवैधानिक स्वीकृति है कि कुछ परिस्थितियों में सुरक्षा के लिए असाधारण उपाय अपरिहार्य हैं।

अनुच्छेद 21 यह घोषित करता है कि किसी व्यक्ति को प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार' ही वंचित किया जाएगा। 'ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950)' में न्यायालय ने इसकी संकुचित व्याख्या करते हुए इसे केवल अधिनियम-सम्मत प्रक्रिया तक सीमित किया। किन्तु 'मेनका गाँधी बनाम भारत संघ (1978)' में सात-न्यायाधीशीय पीठ ने इस व्याख्या को उलटते हुए कहा कि प्रक्रिया उचित, न्यायपूर्ण और तर्कसंगत भी होनी चाहिए। न्यायमूर्ति भगवती ने लिखा—

'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का अर्थ केवल किसी अधिनियम में निर्धारित प्रक्रिया नहीं है; वह प्रक्रिया उचित, न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त होनी चाहिए—काल्पनिक, उत्पीड़नकारी या मनमानी नहीं। (Maneka Gandhi v. Union of India, 1978)

यह निर्णय भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। इसने यह स्थापित किया कि सुरक्षा के नाम पर कोई भी कानून—चाहे संसद ने ही बनाया हो—यदि मौलिक अधिकारों का अनुपातहीन अपहरण करता है, तो वह असंवैधानिक है। यह व्याख्या न तो सुरक्षा कानूनों को खारिज करती है, न नागरिक अधिकारों को पूर्णतः बलिदान करती है—यह दोनों के मध्य संवैधानिक पुल बनाती है।

अनुच्छेद 352-360 में आपातकालीन शक्तियों का प्रावधान यह स्वीकार करता है कि असाधारण परिस्थितियों में संवैधानिक अधिकारों पर विशेष निर्बन्धन आवश्यक हो सकते हैं। 1975-77 के आपातकाल ने यह दिखाया कि इन शक्तियों का दुरुपयोग लोकतंत्र के लिए कितना घातक हो सकता है; साथ ही 44वें संवैधानिक संशोधन (1978) ने यह सिद्ध किया कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में आत्म-सुधार की क्षमता भी होती है।

भारत के सुरक्षा विधान: आवश्यकता एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन

(क) गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम

मूल रूप से 1967 में अधिनियमित और 2004, 2008, 2012 तथा 2019 में संशोधित यह अधिनियम भारत का प्रमुख आतंकवाद-निरोधी विधान है। 2019 के संशोधन द्वारा संगठनों के अतिरिक्त व्यक्तियों को भी 'आतंकवादी' घोषित किया जाने की शक्ति केन्द्र सरकार को दी गई। इस संशोधन के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि आतंकवादी संगठन प्रतिबंध से बचने के लिए अपना ढाँचा परिवर्तित करते रहते हैं, इसलिए व्यक्ति-केन्द्रित प्रावधान आवश्यक था।

आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो इस अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो 2022 के अनुसार दोषसिद्धि दर लगभग 24 प्रतिशत है, जबकि 76 प्रतिशत मामलों में अभियुक्त वर्षों तक विचाराधीन बन्दी के रूप में कारागार में रहते हैं। यह स्थिति अनुच्छेद 21 की गारंटी के साथ गम्भीर तनाव उत्पन्न करती है। तथापि सरकार का यह तर्क भी अनसुना नहीं किया जा सकता कि आतंकवाद से सम्बद्ध मामलों में साक्ष्य की प्रकृति ऐसी होती है जिसे सार्वजनिक न्यायालय में प्रस्तुत करना सुरक्षा-कारणों से कठिन होता है। समाधान यह नहीं कि इस अधिनियम को समाप्त किया जाए, बल्कि यह है कि विचाराधीन हिरासत की एक निश्चित अधिकतम सीमा निर्धारित हो और स्वतंत्र न्यायिक पुनरीक्षा सुनिश्चित की जाए।

(ख) सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम

1958 में नागालैंड की परिस्थितियों के मद्देनजर बना यह अधिनियम सशस्त्र बलों को 'अशांत क्षेत्र' में बिना वारंट गिरफ्तारी, तलाशी और बल-प्रयोग की शक्ति देता है। सुरक्षा-पक्ष का तर्क है कि जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर में जिस स्तर का सशस्त्र विद्रोह रहा है, वहाँ सामान्य पुलिस-प्रक्रिया पर्याप्त नहीं हो सकती। सुरक्षाकर्मियों को त्वरित निर्णय लेने की आवश्यकता होती है और कानूनी अनिश्चितता उनकी प्रभावशीलता को कमजोर करती है।

दूसरी ओर, जीवन रेड्डी समिति (2005) ने इस अधिनियम को 'घृणा और शोषण का प्रतीक' बताते हुए इसके निरसन की सिफारिश की। 'अतिरिक्त न्यायिक हत्या पीड़ित परिवार बनाम भारत संघ (2016)' में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि इस अधिनियम के अन्तर्गत भी सशस्त्र बल न्यायिक जवाबदेही से मुक्त नहीं हैं। मणिपुर में दर्ज सैकड़ों फर्जी मुठभेड़ की शिकायतें यह दर्शाती हैं कि असाधारण शक्तियाँ जब जवाबदेही-विहीन हों, तो वे स्वयं एक सुरक्षा-समस्या बन जाती हैं। संतुलित दृष्टिकोण यह है कि इस अधिनियम को बनाए रखा जाए किन्तु इसके अन्तर्गत शिकायतों की जाँच के लिए एक स्वतंत्र न्यायिक तंत्र स्थापित किया जाए।

(ग) राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम और निवारक निरोध की परम्परा

1980 में अधिनियमित राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत बारह माह तक बिना मुकदमे के हिरासत सम्भव है। भारत में निवारक निरोध की परम्परा औपनिवेशिक 'रॉलेट अधिनियम (1919)' से आरम्भ होकर 'आन्तरिक सुरक्षा रखरखाव अधिनियम (1971)', 'राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम (1980)', 'आतंकवाद एवं विघटनकारी गतिविधि निवारण अधिनियम (1987)' और 'आतंकवाद निवारण अधिनियम (2002)' तक चलती आई है। 'आतंकवाद एवं विघटनकारी गतिविधि निवारण अधिनियम' के अन्तर्गत लगभग 76,000 गिरफ्तारियाँ हुईं किन्तु दोषसिद्धि दर केवल 2.6 प्रतिशत रही—यह आँकड़ा सुरक्षा और स्वतंत्रता के असंतुलन का सर्वाधिक मुखर प्रमाण है। इसके बावजूद निवारक निरोध की व्यवस्था को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता; आवश्यकता केवल इसे सुदृढ़ न्यायिक निगरानी के अधीन करने की है।

न्यायिक व्याख्या: संतुलन की क्रमिक यात्रा

उच्चतम न्यायालय ने सुरक्षा और स्वतंत्रता के द्वन्द्व में कोई एकरेखीय या स्थिर भूमिका नहीं निभाई—यह उसकी संस्थागत जटिलता और विकासशील न्यायशास्त्र का प्रमाण है।

'ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950)': इस प्रकरण में न्यायालय ने निवारक निरोध को वैध ठहराते हुए अनुच्छेद 21 की संकुचित व्याख्या दी। यह निर्णय उस युग की अनिश्चितताओं का प्रतिबिम्ब था जब नव-स्वतंत्र राष्ट्र की एकता और सुरक्षा सर्वोच्च प्राथमिकता थी।

'अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट जबलपुर बनाम शिवकान्त शुक्ला (1976)': आपातकाल के दौरान दिए गए इस निर्णय में बहुमत ने माना कि अनुच्छेद 21 का अधिकार पूर्णतः निलम्बित हो सकता है। यह न्यायिक इतिहास का सर्वाधिक विवादित निर्णय है। केवल न्यायमूर्ति एच. आर. खन्ना ने असहमति व्यक्त करते हुए लिखा: 'राज्य के पास नागरिक के जीवन और स्वतंत्रता का असीमित अधिकार नहीं हो सकता।' 2017 में उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय को 'गलत निर्णीत' घोषित किया।

'मेनका गाँधी बनाम भारत संघ (1978)': इस निर्णय ने अनुच्छेद 21 को एक व्यापक और सजीव अधिकार के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया। 'जन आन्दोलन बनाम भारत संघ (1997)' में टेलीफोन-अवरोधन के लिए प्रक्रियागत मानदंड निर्धारित किए गए। 'डी. के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (1997)' में हिरासत के दौरान उत्पीड़न-निरोध के दिशा-निर्देश जारी हुए। ये निर्णय राष्ट्रीय सुरक्षा को नकारे बिना उसके दुरुपयोग पर अंकुश लगाने के प्रयास हैं।

'न्यायमूर्ति के. एस. पुट्टास्वामी बनाम भारत संघ (2017)': नौ-न्यायाधीशीय पीठ ने सर्वसम्मति से निजता को अनुच्छेद

21 के अन्तर्गत मौलिक अधिकार घोषित किया। इस निर्णय के निहितार्थ राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर व्यापक डिजिटल निगरानी की वैधता पर गम्भीर प्रश्न उठाते हैं।

'अनुराधा भसीन बनाम भारत संघ (2020)': इंटरनेट-प्रतिबंध के मामले में न्यायालय ने कहा कि सुरक्षा उपाय 'अनिश्चितकाल' के लिए नहीं हो सकते; उनकी आवधिक समीक्षा और न्यायसंगत औचित्य अनिवार्य है। यह निर्णय राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता दोनों को समान भार देने का प्रयास है—जो इस शोध की केन्द्रीय स्थापना के अनुरूप है।

इन निर्णयों का समग्र मूल्यांकन यह दर्शाता है कि न्यायालय ने एक ऐसा न्यायशास्त्र विकसित किया है जो राष्ट्रीय सुरक्षा की वैधानिक आवश्यकता को स्वीकार करता है, किन्तु उसे आनुपातिकता, प्रक्रियात्मक न्याय और न्यायिक निगरानी की शर्तों से बाँधता है।

तुलनात्मक संवैधानिक परिप्रेक्ष्य

सुरक्षा और स्वतंत्रता के द्वन्द्व को विभिन्न लोकतंत्रों ने अपनी ऐतिहासिक एवं भू-राजनीतिक विशिष्टताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न ढंग से सम्बोधित किया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका: 11 सितम्बर 2001 के हमलों के पश्चात् 'देशभक्त अधिनियम' ने सुरक्षा-संस्थाओं को व्यापक निगरानी-शक्ति दी। 'हम्दी बनाम रम्सफील्ड (2004)' में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि युद्ध की स्थिति में भी अमेरिकी नागरिकों को उचित सुनवाई का अधिकार है। यह निर्णय सुरक्षा और स्वतंत्रता के बीच संतुलन का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, किन्तु एडवर्ड स्नोडेन के खुलासों (2013) ने यह स्पष्ट किया कि व्यापक निगरानी-कार्यक्रम संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते हैं।

जर्मनी: नाजीवाद के अनुभव से सीखते हुए जर्मन मूल-विधि में 'मानवीय गरिमा' को अखंडनीय मूल्य घोषित किया गया। 'विमानन सुरक्षा अधिनियम (2006)' को संघीय संवैधानिक न्यायालय ने इसलिए असंवैधानिक घोषित किया क्योंकि वह निर्दोष यात्रियों की जान लेने की अनुमति देता था—यहाँ तक कि आतंकवादी खतरे की स्थिति में भी। जर्मन मॉडल यह सिखाता है कि कुछ मूल्य—मानवीय गरिमा और जीवन का अधिकार—सुरक्षा के नाम पर भी नहीं कुचले जा सकते।

इज़राइल: भारत की तुलना में इज़राइल का अनुभव अत्यधिक प्रासंगिक है। इज़राइल भी एक ऐसे क्षेत्र में स्थित है जहाँ उसके अस्तित्व को लगातार चुनौती दी जाती रही है। न्यायमूर्ति अहरोन बराक के नेतृत्व में इज़राइल के उच्चतम न्यायालय ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि 'लोकतंत्र आतंकवाद से लड़ता है, किन्तु एक हाथ उसकी पीठ पर बँधा होता है'—अर्थात् कुछ नैतिक सीमाएँ आतंकवाद-विरोधी अभियानों में भी अनुल्लंघनीय हैं। इज़राइल में सुरक्षा उपायों की न्यायिक समीक्षा अत्यन्त सक्रिय है—यह भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण मॉडल हो सकता है।

दक्षिण अफ्रीका: 1996 के संविधान की धारा 37 आपातकाल में अधिकारों के निलम्बन की अनुमति देती है, किन्तु 'गरिमा, समानता और जीवन' को अस्थगनीय घोषित करती है। यह ढाँचा यह मानता है कि असाधारण सुरक्षा-शक्तियाँ आवश्यक हैं, किन्तु कुछ सीमाएँ किसी भी परिस्थिति में नहीं लाँघी जा सकतीं।

तुलनात्मक विश्लेषण से एक सामान्य सिद्धान्त उभरता है: सफल लोकतंत्र वे हैं जो सुरक्षा को एक वास्तविक और गम्भीर आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे आनुपातिकता, न्यायिक समीक्षा और मानवीय गरिमा की शर्तों से आबद्ध रखते हैं। न तो 'सुरक्षा सर्वोपरि' और न ही 'स्वतंत्रता सर्वोपरि'—बल्कि दोनों का संस्थागत संतुलन ही स्थायी समाधान है।

राजनीतिक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

राजनीतिक दर्शन में सुरक्षा और स्वतंत्रता के सम्बन्ध पर दो प्रमुख परम्पराएँ विद्यमान हैं जो एक-दूसरे की पूरक भी हैं।

होब्स की राज्य-दर्शन परम्परा यह मानती है कि प्राकृतिक अवस्था में जीवन 'एकाकी, दरिद्र, क्रूर और लघु' है; इसलिए व्यक्ति अपनी स्वतंत्रताओं का एक हिस्सा राज्य को इसलिए सौंपता है कि राज्य उसे सुरक्षा दे। इस दृष्टि से सुरक्षा स्वतंत्रता की पूर्वशर्त है—जहाँ सुरक्षा नहीं, वहाँ स्वतंत्रता भी अर्थहीन है। भारत के उन क्षेत्रों का उदाहरण लें जहाँ 1990 के दशक में कश्मीर में आतंकवाद के चरम पर लाखों लोग विस्थापित हुए—वहाँ 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' किस काम की जब जीवन की मूलभूत सुरक्षा नहीं?

लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल की उदारवादी परम्परा यह मानती है कि राज्य की शक्ति एक 'सामाजिक अनुबन्ध' पर आधारित है जिसका उद्देश्य 'जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति' की रक्षा है। जब राज्य स्वयं इन मूल्यों का उल्लंघन करने लगे, तो उसकी वैधता संकट में पड़ती है। मिल ने 'स्वतंत्रता पर' में लिखा कि 'शक्ति का एकमात्र उचित प्रयोग दूसरों को हानि से बचाना है।'

अमर्त्य सेन ने 'विकास एक स्वतंत्रता है' में यह महत्त्वपूर्ण तर्क दिया कि सुरक्षा और स्वतंत्रता वास्तव में परस्पर-पूरक हैं। जहाँ नागरिक स्वतंत्र रूप से असंतोष व्यक्त कर सकते हैं, सूचना तक पहुँच सकते हैं और सरकार की आलोचना कर सकते हैं, वहाँ शासन अधिक उत्तरदायी और इसलिए अधिक प्रभावी होता है। 1943 के बंगाल अकाल का उदाहरण देते हुए सेन ने कहा कि जहाँ मुक्त प्रेस और लोकतांत्रिक जवाबदेही होती है, वहाँ अकाल नहीं पड़ता—क्योंकि सरकार को समय रहते सुधारात्मक कदम उठाने का दबाव होता है।

जियोर्जियो आगाम्बेन की 'अपवाद की स्थिति' की अवधारणा यह चेतावनी देती है कि आधुनिक राज्य आपातकाल को 'अपवाद' से 'शासन की स्थायी पद्धति' में परिवर्तित कर देते हैं। भारत में सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम के अन्तर्गत 'अशांत क्षेत्र' की घोषणा का दशकों तक बने रहना इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। किन्तु इसका समाधान अधिनियम का उन्मूलन नहीं, बल्कि 'अशांत क्षेत्र' की घोषणा की नियमित संसदीय समीक्षा है।

परिकल्पनाओं का परीक्षण: कितना सिद्ध हुआ?

प्रथम परिकल्पना का परीक्षण: यह परिकल्पना थी कि भारत में सुरक्षा-खतरे असाधारण विधानों को उचित ठहराते हैं, किन्तु इनकी वैधता न्यायिक पुनरीक्षा और आनुपातिकता की शर्त से बँधी है।

यह परिकल्पना **आंशिक रूप से सिद्ध** *होती है।* सुरक्षा-खतरों की वास्तविकता निर्विवाद है—इसका प्रमाण गृह मंत्रालय के आँकड़े, आतंकवादी हमलों का इतिहास और विद्रोही हिंसा में हुई मृत्युएँ देते हैं। गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम और सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम की आवश्यकता इस पृष्ठभूमि में स्पष्ट है। जम्मू-कश्मीर में 2019 के पश्चात् आतंकी घटनाओं में मापनीय कमी इसका व्यावहारिक प्रमाण है। किन्तु परिकल्पना की दूसरी शर्त—न्यायिक पुनरीक्षा और आनुपातिकता—व्यवहार में अधूरी पाई जाती है। विचाराधीन बन्दियों की दीर्घकालिक हिरासत, सलाहकार बोर्ड की अपारदर्शिता और उत्तर-पूर्व में फर्जी मुठभेड़ के अभियोजन का अभाव यह दर्शाते हैं कि 'न्यायिक पुनरीक्षा' अभी पर्याप्त सुदृढ़ नहीं है।

द्वितीय परिकल्पना का परीक्षण: यह परिकल्पना थी कि न्यायालय ने सुरक्षा और स्वतंत्रता के मध्य एक क्रमशः परिष्कृत होता संतुलन विकसित किया है।

यह परिकल्पना **मुख्यतः सिद्ध** *होती है।* 'गोपालन (1950)' से 'मेनका गाँधी (1978)', 'जन आन्दोलन (1997)', 'डी. के. बसु (1997)', 'पुट्टास्वामी (2017)' और 'अनुराधा भसीन (2020)' तक की यात्रा में न्यायालय ने एक ऐसा न्यायशास्त्र विकसित किया है जो राष्ट्रीय सुरक्षा को न नकारता है, न नागरिक अधिकारों को पूर्णतः बलिदान करता है। 'अपवाद

जबलपुर (1976)' इस यात्रा का सबसे काला अध्याय था, किन्तु न्यायालय ने अन्ततः उस गलती को 2017 में स्वीकार किया—यह संस्थागत आत्म-सुधार का उदाहरण है। हालाँकि 'राष्ट्रीय जाँच एजेंसी बनाम जहूर वतली (2019)' में जमानत के अत्यन्त कठोर मानदंड इस संतुलन पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

तृतीय परिकल्पना का परीक्षण: यह परिकल्पना थी कि सुरक्षा और स्वतंत्रता का संतुलन न्यायिक स्वतंत्रता, संसदीय जवाबदेही और प्रक्रियागत पारदर्शिता के त्रिकोणीय ढाँचे से प्राप्त होता है।

यह परिकल्पना **सैद्धान्तिक रूप से पूर्णतः सिद्ध, व्यावहारिक रूप से आंशिक सिद्ध** *होती है।* आपातकाल के पश्चात् की न्यायिक सक्रियता, 44वाँ संवैधानिक संशोधन और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना—ये सब इस परिकल्पना को सैद्धान्तिक बल देते हैं। किन्तु न्यायालय में लम्बित मामलों की विशाल संख्या, सुरक्षा विधानों पर संसद की अपर्याप्त बहस, और कुछ मामलों में नागरिक समाज पर बढ़ते प्रतिबंध—ये सब व्यावहारिक कमियाँ हैं। तीनों संस्थाओं—न्यायपालिका, संसद और नागरिक समाज—की सुदृढ़ता ही वास्तविक संतुलन सम्भव बनाती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

राष्ट्रीय सुरक्षा के पक्षधरों का तर्क यह है कि भारत जैसे देश में—जहाँ परमाणु-सम्पन्न शत्रु, सशस्त्र विद्रोह और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद एक साथ उपस्थित हैं—कठोर सुरक्षा कानून न केवल आवश्यक हैं, बल्कि उनके बिना शेष सभी मौलिक अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। यदि राज्य नागरिकों के जीवन की रक्षा नहीं कर सकता, तो 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' और 'निजता का अधिकार' कागजी घोषणाएँ मात्र रह जाती हैं। यह तर्क तथ्यात्मक बल रखता है और इसे उपेक्षित करना बौद्धिक दुस्साहस होगा।

किन्तु इस तर्क की तीन प्रमुख सीमाएँ हैं जिन्हें उतनी ही गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। प्रथम, दुरुपयोग का ऐतिहासिक अभिलेख: 'आतंकवाद एवं विघटनकारी गतिविधि निवारण अधिनियम' के अन्तर्गत 76,000 गिरफ्तारियाँ और 2.6 प्रतिशत दोषसिद्धि, 'आन्तरिक सुरक्षा रखरखाव अधिनियम' का आपातकाल में राजनीतिक विरोधियों के विरुद्ध उपयोग—ये प्रमाण हैं कि 'सुरक्षा' का आवरण 'उत्पीड़न' के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। द्वितीय, सुरक्षा कानूनों की कठोरता और वास्तविक सुरक्षा के मध्य सरल सकारात्मक सम्बन्ध नहीं है। जब हाशिये के समुदायों को असंगत रूप से इन कानूनों का शिकार बनाया जाता है, तो वंचना और अविश्वास की भावना आतंकवाद की जड़ों को और गहरा करती है। तृतीय, 'सुरक्षा' और 'स्वतंत्रता' दोनों पर अत्यधिक जोर देने वाले विद्वान एकांगी दृष्टि से पीड़ित हैं। 1990 के कश्मीर में आतंकवाद के चरम पर लाखों लोग जब विस्थापित हुए, तब किस स्वतंत्रता की बात की जाए? और जब सुरक्षा के नाम पर मणिपुर में दशकों तक फर्जी मुठभेड़ चलती रहीं, तब किस सुरक्षा की बात की जाए? दोनों प्रश्न उतने ही वैध हैं।

निष्कर्ष एवं विश्लेषण

प्रस्तुत शोध के विश्लेषण से पाँच केन्द्रीय निष्कर्ष उभरते हैं, जो परस्पर-सम्बद्ध और एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रथम निष्कर्ष: राष्ट्रीय सुरक्षा एक वैध और अपरिहार्य संवैधानिक दायित्व है। भारत की भू-रणनीतिक परिस्थितियाँ, आन्तरिक विद्रोह का दीर्घ इतिहास और सीमापारीय आतंकवाद—ये सब मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा कोई राजनीतिक नारा नहीं, बल्कि एक वस्तुगत आवश्यकता है। संविधान की उद्देशिका में 'राष्ट्र की एकता और अखंडता' का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि संविधान-निर्माताओं ने भी सुरक्षा को मौलिक महत्त्व दिया। वह राज्य जो अपने नागरिकों की शारीरिक सुरक्षा सुनिश्चित नहीं कर सकता, वह किसी भी मौलिक अधिकार की व्यावहारिक गारंटी नहीं दे सकता।

द्वितीय निष्कर्ष: व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुरक्षा की शत्रु नहीं, उसकी सहयोगी है। अमर्त्य सेन और इज़राइल के

न्यायमूर्ति बराक के तर्कों के आलोक में यह स्पष्ट है कि जहाँ नागरिकों को शिकायत करने, असंतोष व्यक्त करने और सरकार की जवाबदेही माँगने का अधिकार है, वहाँ सुरक्षा-नीतियाँ अधिक प्रभावी होती हैं। जो राज्य अपने नागरिकों का विश्वास खो देता है, वह आन्तरिक सुरक्षा की लड़ाई पहले ही हार जाता है। इसलिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संरक्षण दीर्घकालिक राष्ट्रीय सुरक्षा की ही एक शर्त है।

तृतीय निष्कर्ष: भारत के सुरक्षा कानूनों की समस्या उनका अस्तित्व नहीं, उनका अपर्याप्त संवैधानिक नियंत्रण है। गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम, सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम और राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम—यदि सुदृढ़ न्यायिक पुनरीक्षा, संसदीय निगरानी और प्रक्रियागत पारदर्शिता के साथ लागू हों—तो ये विधान लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर उचित हैं। समस्या तब उत्पन्न होती है जब ये बिना जवाबदेही के प्रयुक्त होते हैं, जब विचाराधीन बन्दी वर्षों बिना मुकदमे के कारागार में रहते हैं, और जब 'राष्ट्रीय सुरक्षा' की परिभाषा इतनी लचीली हो जाती है कि प्रत्येक राजनीतिक असंतोष उसमें समाहित हो जाए।

चतुर्थ निष्कर्ष: आनुपातिकता का सिद्धान्त इस द्वन्द्व के समाधान की केन्द्रीय कुंजी है। कोई भी सुरक्षा उपाय तीन शर्तों पर वैध है: (अ) उसका एक वैध सुरक्षा-उद्देश्य हो; (ब) वह उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तर्कसंगत रूप से उपयुक्त हो; और (स) वह न्यूनतम आवश्यक सीमा से अधिक नागरिक अधिकारों का अपहरण न करे। यह सिद्धान्त जर्मन, इज़राइली और यूरोपीय न्यायशास्त्र से भारतीय संदर्भ में ग्राह्य है और उच्चतम न्यायालय ने इसे 'आधुनिक दन्त महाविद्यालय बनाम मध्य प्रदेश राज्य (2016)' में औपचारिक रूप से स्वीकार किया है।

पंचम निष्कर्ष एवं नीतिगत सुझाव: संतुलन के व्यावहारिक स्थापना के लिए पाँच सुधार अविलम्ब आवश्यक हैं। (1) विचाराधीन बन्दियों के मामलों की 90 दिनों के भीतर अनिवार्य न्यायिक समीक्षा; (2) सलाहकार बोर्डों को कार्यपालिका-नियंत्रण से मुक्त कर स्वतंत्र न्यायिक निकाय का स्वरूप प्रदान करना; (3) सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम के अन्तर्गत 'अशांत क्षेत्र' की घोषणा की वार्षिक संसदीय समीक्षा और उचित औचित्य की बाध्यता; (4) सुरक्षा कानूनों के प्रयोग की वार्षिक सार्वजनिक रिपोर्ट जिसमें गिरफ्तारी, हिरासत-अवधि, मुकदमों की स्थिति और दोषसिद्धि दर का सम्पूर्ण विवरण हो; (5) गैरकानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम के अन्तर्गत 'आतंकवादी' घोषित व्यक्तियों को प्रभावी न्यायिक अपील का अधिकार।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर की वह चेतावनी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी 1949 में थी: 'यदि इस संविधान को बुरे लोग चलाएँगे तो यह बुरा सिद्ध होगा; और यदि अच्छे लोग चलाएँगे तो यह अच्छा सिद्ध होगा।' भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता इसी कसौटी पर परखी जाएगी कि वह अपनी सुरक्षा-आवश्यकताओं को संवैधानिक मूल्यों से समझौता किए बिना कितने प्रभावी ढंग से पूरा कर पाता है। राष्ट्रीय सुरक्षा का वास्तविक स्तम्भ केवल कठोर कानून नहीं, बल्कि उन कानूनों को न्यायपूर्ण, पारदर्शी और जवाबदेह तरीके से लागू करने वाली संस्थाएँ और नागरिक हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. आम्बेडकर, भीमराव रामजी (1949). संविधान सभा में भाषण, 25 नवम्बर 1949. संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 11. नई दिल्ली: भारत सरकार प्रकाशन.
2. Austin, Granville (1966). The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation. Oxford: Clarendon Press.
3. Agamben, Giorgio (2005). State of Exception (Trans. Kevin Attell). Chicago: University of Chicago Press.
4. Barak, Aharon (2006). The Judge in a Democracy. Princeton: Princeton University Press.
5. Basu, Durga Das (2019). Commentary on the Constitution of India (9th ed.). Kolkata: Lexis Nexis.
6. Bakshi, Upendra (1994). The Crisis of the Indian Legal System. New Delhi: Vikas Publishing House.
7. Ackerman, Bruce (2004). The Emergency Constitution. Yale Law Journal, 113(5), 1029–1091.

8. Sen, Amartya (1999). Development as Freedom. New York: Anchor Books.
9. Noorani, A. G. (2015). Civil Liberties and Security Legislation in India. Economic and Political Weekly, 50(3), 42–51.
10. Hussain, Nasser (2003). The Jurisprudence of Emergency. Ann Arbor: University of Michigan Press.
11. राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो (2022). भारत में अपराध 2022: सांख्यिकीय प्रतिवेदन. नई दिल्ली: गृह मंत्रालय, भारत सरकार.
12. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (2010). वार्षिक प्रतिवेदन 2009-10. नई दिल्ली: राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग.
13. जीवन रेड्डी समिति (2005). सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम 1958 की समीक्षा. नई दिल्ली: भारत सरकार.
14. विधि आयोग, भारत (1999). 173वाँ प्रतिवेदन: आतंकवाद निरोध विधेयक. नई दिल्ली: विधि एवं न्याय मंत्रालय.
15. Human Rights Watch (2020). India: Repeal Sweeping Security Laws. New York: Human Rights Watch.
16. न्यायिक प्रकरण: ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य, वायु 1950 सर्वोच्च न्यायालय 27.
17. न्यायिक प्रकरण: मेनका गाँधी बनाम भारत संघ, वायु 1978 सर्वोच्च न्यायालय 597.
18. न्यायिक प्रकरण: अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट जबलपुर बनाम शिवकान्त शुक्ला, वायु 1976 सर्वोच्च न्यायालय 1207.
19. न्यायिक प्रकरण: जन आन्दोलन बनाम भारत संघ, वायु 1997 सर्वोच्च न्यायालय 568.
20. न्यायिक प्रकरण: डी. के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य, वायु 1997 सर्वोच्च न्यायालय 610.
21. न्यायिक प्रकरण: न्यायमूर्ति के. एस. पुट्टास्वामी बनाम भारत संघ, (2017) 10 सर्वोच्च न्यायालय प्रकरण 1.
22. न्यायिक प्रकरण: अतिरिक्त न्यायिक हत्या पीड़ित परिवार बनाम भारत संघ, (2016) 14 सर्वोच्च न्यायालय प्रकरण 416.
23. न्यायिक प्रकरण: अनुराधा भसीन बनाम भारत संघ, (2020) 3 सर्वोच्च न्यायालय प्रकरण 637.
24. न्यायिक प्रकरण: राष्ट्रीय जाँच एजेंसी बनाम जहूर अहमद शाह वतली, (2019) 5 सर्वोच्च न्यायालय प्रकरण 1.
25. Hamdi v. Rumsfeld, 542 U.S. 507 (2004). United States Supreme Court.
26. A v. Secretary of State for Home Department [2004] UKHL 56. House of Lords, United Kingdom.